

भारत की अवधारणा को चुनौती : नगाओं को न्याय और सम्मान देते हुए समाधान

Challenging the Idea of India: Accommodating the Nagas

संजय हज़ारिका

Sanjoy Hazarika

11.23.09

पिछले लगभग साठ वर्षों से कोलकता (कलकत्ता) पूर्व में स्थित नगालैंड जैसे छोटे राज्य में भारत की अवधारणा को ही बहुत गंभीरता से चुनौती दी जाती रही है. सन् 1947 में ब्रिटेन से आज़ादी पाने के दस वर्षों के भीतर ही भारत से अलग स्वतंत्र राष्ट्र बनाने की आवाज़ सबसे पहले यहीं उठी थी.

राज्य में नगाओं की संख्या लगभग 1.5 मिलियन है और ये भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र में रहते हैं. यह भाग उत्तर में तिब्बत (चीन) और भूटान, पूर्व में बर्मा (म्यान्मार) और दक्षिण में बांगला देश जैसे पड़ोसी देशों से घिरा हुआ है. इस भूभाग का मुश्किल से 4 प्रतिशत भाग ही भारत की सीमाओं से जुड़ा हुआ है. विविधता से भरे इस क्षेत्र में 160 से अधिक जनजातियाँ हैं और कम से कम 220 छोटे-छोटे जातीय समूह हैं और प्रत्येक की अपनी एक भाषा है और बृहत्तर भारत में अपनी जगह बनाने का संकल्प भी बढ़ रहा है. यहाँ पर कम से कम पाँच ऐसे बड़े दल हैं जो भारत के विरुद्ध विद्रोह में संलग्न हैं जिसके कारण केंद्र तथा इस क्षेत्र के बीच तनाव बना हुआ है. इसके अलावा कुछ संवेदनशील मामले भी इस क्षेत्र से जुड़े हुए हैं. जैसे बांगला देश से गैर-कानूनी तौर पर आने वाले आप्रवासियों के कारण उत्तर-पूर्व क्षेत्र का जनसांख्यिकीय खाका ही बदलने लगा है.

इनमें भारत से सामाजिक और राजनैतिक अलगाव का भाव बहुत ज़्यादा है और इसी कारण दिल्ली के प्रति अविश्वास की भावना भी बहुत गहरी है. यद्यपि आजकल नगा संघर्ष के बारे में बहुत ही कम लिखा जाता है और कम ही खबरें प्रकाशित होती हैं, लेकिन एशिया में कहीं भी इतना लंबा पृथक्तावादी संघर्ष नहीं किया गया है. इस संघर्ष में उन्हें जनता का सहयोग और "जनमत" भी मिला है और यह घातक संघर्ष बार-बार होने वाले युद्धविरामों के कारण अब धीमा पड़ गया है और सबसे ताज़ा युद्धविराम 1996 से अब तक चल रहा है.

नगा स्थिति की जटिलता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि अकेले नगालैंड राज्य में सोलह और मणिपुर के पड़ोसी राज्य में एक दर्जन से अधिक जनजातियाँ हैं। यही कारण है कि लगभग दो दशकों तक इन दलों और भारत सरकार के बीच चलने वाली समझौता-वार्ताओं के बावजूद दोनों पक्ष , जिनमें राष्ट्रीय सामाजिक नगालिम परिषद (NSCN) जैसा सबसे प्रमुख नगा संगठन भी शामिल है, अभी-भी बहस में उलझे हुए हैं और इससे आशा व निराशा दोनों ही प्रकार के संकेत मिलते हैं। यह अपने आप में आशा का प्रतीक जरूर है कि दोनों ही पक्षों का अब सैनिक समाधान में विश्वास नहीं रह गया है और अब वे कई मामलों में राजनैतिक संवाद के लिए प्रयत्नशील हैं। यह अपने-आपमें ही एक बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय है, क्योंकि यह निर्णय चालीस वर्षों तक लगातार युद्ध करने के बाद ही अंततः लिया जा सका है। राष्ट्रीय सामाजिक नगालिम परिषद (NSCN) के दो गुटों के सशस्त्र योद्धा जो अलग नागालैंड के लिए संघर्ष कर रहे हैं, विशेष शिविरों में रह रहे हैं और आधिकारिक रूप में उन्हें शस्त्र लेकर आजादी से घूमने और आम नागरिकों से जबरन वसूली की अनुमति नहीं है। ये मामले बहुत ही संवेदनशील हैं और इनका उल्लंघन भी होता रहता है। और सच तो यह है कि दो प्रमुख सशस्त्र गुटों के बीच संघर्षों के बावजूद नगाओं की एक ऐसी पीढ़ी तैयार हो गई है जिसे अस्थायी शांति के बारे में कुछ न कुछ जानकारी तो है ही। पिछली पीढ़ियों ने शांति का ऐसा माहौल पहले कभी नहीं देखा था।

नागरिक समुदाय दोनों ही पक्षों से अधिक ज़िम्मेदारी से काम लेने के लिए बराबर आग्रह करते रहते हैं। पूरे उत्तर-पूर्व में यहाँ और अन्य स्थानों पर भी सशस्त्र सेना विशेष अधिकार अधिनियम (AFSPA) के विरोध में लगातार आंदोलन होते रहते हैं। इस अधिनियम में यह व्यवस्था है कि सैनिक बिना किसी सवाल के और सिविल अदालत में सुनवाई के बिना भी किसी पर भी गोली चला सकते हैं। यही कारण है कि इस क्षेत्र के अधिकांश लोग इस अधिनियम को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

तीन-तीन सरकारों द्वारा गठित समितियों द्वारा इस अधिनियम को हटाए जाने की सिफारिशों के बावजूद सशस्त्र सेना विशेष अधिकार अधिनियम (AFSPA) अभी-भी जारी है और इसका सबसे बड़ा नुकसान यही हुआ कि हिंसा का दौर अभी-भी जारी है और गुटबंदी के शिकार लोग एक-दूसरे पर दोषारोपण करते रहते हैं। लेकिन सचाई तो यही है कि 1950 और 1970 के दशकों के बीच द्विपक्षीय समस्या बने रहने के बावजूद आज यह भारत की आंतरिक समस्या ही है, भले ही नगा दल कितना ही इंकार करते रहें।

1996 से प्रधानमंत्री स्तर पर भी भारतीय वार्ताकारों द्वारा नई दिल्ली, क्वालालम्पूर (मलेशिया), चियांग माई (थाईलैंड), एम्सटर्डम और पेरिस जैसे विदेशी स्थलों पर भी अब तक समझौता-वार्ताओं के 60 दौर हो चुके हैं. यद्यपि मतभेद धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं, लेकिन अभी- भी कई मसले ऐसे हैं जिनके बारे में समाधान होना बाकी है. चर्चा होते - होते तेरह साल बीत चुके हैं!

इतने लंबे समय तक चले संघर्ष के कारण दोनों ही पक्षों के लोग यह समझने लगे हैं कि कोई भी वार्ताकार इस मसले के समाधान के लिए कृतसंकल्प नहीं है और वे यथास्थिति बनाए रखना ही ज्यादा पसंद करते हैं. इस स्थिति में शांति भी है और संघर्ष भी नहीं है.

सवाल फिर भी यही रह जाता है: नगा, असमी, मिज़ो, मणिपुरी और अन्य समूहों जैसी छोटी-छोटी राष्ट्रीयता वाले लोगों की माँगों और सरोकारों को भारत के लोकतांत्रिक ढाँचे में कैसे पूरा किया जाए. आज भी इस ढाँचे में बहुत-सी खामियाँ हैं, खास तौर पर बुनियादी सेवाओं की पूर्ति में विफलता आदि.

इसका उत्तर कुछ सुविधाओं के पैकेज देने या सैनिक कार्रवाई शुरू करने से नहीं होगा. बर्मा (म्यान्मार) का उदाहरण हमारे सामने है. जो कुछ भी वहाँ चालीस-पैंतालीस साल में विकसित किया गया, उसे सैनिक विद्रोह ने बर्बाद कर दिया.

सन् 1962 में बर्मा के तत्कालीन प्रधानमंत्री ऊ नू ने एक राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया था, जिसमें अनेक राजनैतिक दलों, जातीय नेताओं और सरकारी प्रतिनिधियों ने और विशेषकर प्रमुख जातिगत राष्ट्रीयता वाले नेताओं ने भाग लिया था. इस सम्मेलन में उन्होंने संवैधानिक ढाँचे को विकसित करने की एक योजना प्रस्तुत की थी. यह योजना भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के लिए विशेषकर नगालैंड के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत कर सकती है. इस योजना के अंतर्गत संसद के दोनों सदनों को समान अधिकार देने, "राष्ट्रीयताओं के सदन" में बराबर संख्या में प्रतिनिधि चुनकर भेजने और केंद्र सरकार को सीमित अधिकार देने का आश्वासन दिया गया है जबकि शेष अधिकार राज्यों के पास रहेंगे.

ऐसे कई स्पष्ट अवसर हैं जिनकी तलाश की जा सकती है. नगा वार्ताओं में दोनों पक्षों के स्तर पर अब तक कोई प्रगति नहीं हुई है और ये वार्ताएँ अब तक खिंचती चली आ रही हैं. स्वायत्त प्रभुसत्ता का तो सवाल ही पैदा नहीं होता. आवश्यकता इस बात की है कि कोई ऐसा नवोन्मेषकारी उपाय किया जाए जिसे नगाओं की वर्तमान सामाजिक पूँजी पर

निर्मित की जा सके, जिसमें शासन के मॉडल ऐसे हों जिन्हें क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर मान्यता मिल चुकी हो. इनमें 1970 के दशक में गठित ग्राम विकास बोर्ड भी शामिल हैं, जिनमें निधियाँ सीधे ही गाँव के प्राधिकारियों तक पहुँचती हैं और वे राज्य स्तर के राजनीतिज्ञों से सीधे आदेश लेने के बजाय स्वयं ही अपनी प्राथमिकताओं का निर्धारण करते हैं. हाल ही में इसी के विस्तारण के लिए शिक्षा और ऊर्जा संबंधी विषयों को स्थानीय प्राधिकारियों के हवाले कर दिया गया है. यह व्यवस्था अन्य राज्य सरकारों की केंद्रीकृत कार्यप्रणाली से ठीक विपरीत होगी.

आगे बढ़कर राष्ट्रीय संसद के अंदर ही जातीय समूहों का एक "राष्ट्रीयता सदन " गठित किया जाना चाहिए जो पिछड़ी जाति और जनजाति समूहों के लिए सीटों के आरक्षण की वर्तमान नीति से कहीं आगे होगा. इसकी शुरुआत उत्तर पूर्व परिषद के नाम से ज्ञात वर्तमान क्षेत्रीय योजना बोर्ड के ज़रिए क्षेत्रीय स्तर पर प्रायोगिक रूप में की जा सकती है. इस प्रकार एक ओर भारत की सीमाएँ सुरक्षित हो जाएँगी और भारत की प्रभुसत्ता भी बनी रहेगी. साथ ही दिल्ली की सुरक्षा संबंधी चिंता भी दूर हो जाएगी. दूसरी ओर एक अरसे से नगा और अन्य महत्वपूर्ण जातीय समूहों की न्याय और सम्मान से जीने की इच्छा भी पूरी हो जाएगी. पूरी तरह से न भी हो तो भी काफ़ी हद तक तो पूरी हो ही जाएगी.

संजय हज़ारिका नई दिल्ली स्थित ज़ामिया मिल्लिया इस्लामिया के उत्तर पूर्व अध्ययन केंद्र में अध्यक्ष और प्रोफ़ेसर हैं. साथ ही असम राज्य में गुवाहाटी से बाहर स्थित उत्तर पूर्व अध्ययन एवं नीतिगत अनुसंधान (C-NES) केंद्र के प्रबंध न्यासी भी हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार

<malhotravk@hotmail.com>